

## अपनी सलीबें : रचना प्रक्रिया

“अपनी सलीबें” उपन्यास सन् 1996 में छपा। उससे लगभग एक वर्ष पहले राधाकृष्ण प्रकाशन को छपने के लिये दे दिया था।

इस उपन्यास को लिखने में लगभग पांच वर्ष लगे। दरअसल इसे इन पांच सालों में सिर्फ गर्मी की छुट्टियों में ही लिखा गया। साल के नौ-दस महीने कॉलेज में पढ़ाने की तथा अन्य व्यस्तताओं में निकल जाते थे। इसमें भी एक साल गर्मी की छुट्टियों में मेरे परिवार के कई लोग लगातार मेहमान बन कर आते रहे तो उस साल लिखना हुआ ही नहीं। मुझे खुद ताज्जुब है कि इतने लंबे समय तक लंबे-लंबे अंतरालों के बाद (8-10 महीने के) कैसे तारतम्य बना रहा। हर बार आगे बढ़ने पर चार-छः दिन लगते, पिछला पूरा पाठ पढ़कर आत्मसात करने में तथा दिल और दिमाग को फिर उसी स्तर तक ला पाने में।

शायद इसका कारण यह था कि लिखना शुरू करने से पहले कई सालों तक पूरा कथानक लगातार मेरे दिमाग में चलता रहा था और भरपूर शिद्दत से मेरे मन में बस चुका था। इसलिये थोड़ी मेहनत के बाद फिर टूटे तार जुड़ जाते और कथा-सरिता उसी रास्ते पर बह निकलती थी।

दरअसल, मैं उपन्यास लिखना ही नहीं चाहती थी। जो कुछ मेरे भीतर पक रहा था, वह कई कहानियों के लिए खुराक थी। उपन्यास लिखना मुझे कष्टप्रद लगता था। सबसे पहली बात, लगातार समय देने की समस्या। मुझे कहानी लेखन अधिक सुविधाजनक लगता है। हालांकि उपन्यास के मुकाबिले कहानी में अधिक सावधानी और परिश्रम की जरूरत है लेकिन कहानी दो-तीन बैठकों में पूरी हो जाती है। उपन्यास में ज्यादा गुंजाइश होती है। थोड़ी बहुत असावधानी या खींच चल जाती है। कैनवास बड़ा होने से भी छूट होती है, इधर उधर घूमने की। कहानीकारों में सर्वाधिक प्रभावित मैं सआदत हसन मंटो से रही हूँ। मंटो मेरा आदर्श हैं। दूसरे नंबर पर इस्मत चगताई हैं। लेकिन मंटो का जवाब नहीं। मंटो ने भी कोई उपन्यास नहीं लिखा। कहानियां ही कहानियां लिखीं। उनके संस्मरण भी कहानियां हैं और कहानियां जैसे संस्मरण हों। मैंने भी हमेशा से यही सोचा था कि मैं कहानियां ही लिखूंगी।

लेकिन उपन्यास का आग्रह मेरे दोस्तों और गुरुओं का था। सबसे अधिक आग्रह कुँवरपाल का था। सबका सोचना था कि बिना उपन्यास लिखे साहित्य के मैदान में टिके नहीं रह सकते। बिना उपन्यास लिखे साहित्यकारों की सूची में नाम दर्ज नहीं हो सकता। फिर उपन्यास जितना मोटा हो उतना ही उपयोगी है। प्रकाशक को मोटा तंदरुस्त उपन्यास अनुकूल पड़ता है क्योंकि आजकल खरीद की खपत संस्थानों, पुस्तकालयों में होती है और मोटे उपन्यास की कीमत भी मोटी होती है।

बहरहाल, एक विषय मेरे दिमाग में शुरू से ही रचा-बसा था और पक रहा था। इसके कई कारण थे। **एक**—मेरा मानना है बीसवीं सदी का अंतिम कालखंड दलित चेतना की ऊंची उछाल के नाम रहा है और भारतीय समाज में परंपरागत चले आ रहे सामाजिक समीकरण पिघलकर नई शकलें ले रहे हैं। नितांत नवीन, अनजाने, अनबूझे समीकरण बन-बिगड़ रहे हैं और नवसृजित रूप ग्रहण कर रहे हैं। इन सामाजिक परिवर्तनों के साथ जातिगत संबंधों की टूटन, नये संबंधों का सृजन, आर्थिक संबंधों की उथल पुथल, नई शिक्षा और चेतना के साथ पुराने सामंती मूल्यों की कश्मकश और अंतर्द्वन्द्व परंपरागत भारतीय समाज की जटिल परिस्थितियों को और जटिल बना रहे हैं।

**दो**—एक ओर उपरोक्त वस्तुगत परिस्थितियां और दूसरी ओर इनके परिप्रेक्ष्य में मानव स्वभाव की जटिलताएँ। नयी आधुनिक शिक्षा और परिस्थितियों के अंतर्गत ही बौद्धिक चेतना स्थितियों का सृजन करती है। लेकिन हृदय संस्कार जनित प्रवृत्तियों के अधीन होता है जो दूसरी तरह से रियेक्ट करता है। आधुनिक समाज की जटिल आर्थिक-सामाजिक परिस्थितियां अलग तरह की कुंठाओं का निर्माण कर रही हैं। ऐसे में मानव स्वभाव कब, कैसे व्यवहार करता है—किस तरह वस्तुगत परिस्थितियों को ग्रहण करता है, इसका अलग मनोविज्ञान है। **तीन**—मध्यवर्गीय समाज में आदर्श और यथार्थ की भीषण टकराहट है। एक ओर मध्यवर्गीय पढ़ी-लिखी लड़कियों की इच्छाएँ और आकांक्षाएँ हैं। वे एक आधुनिक, शानदार जीवन जीना चाहती हैं। जातिगत समानता के आदर्श की भी हिमायत करती हैं लेकिन जब तक अपने भीतर के गहरे धंसे संस्कारों से नहीं लड़ा जाता तब तक कोई सामाजिक परिवर्तन नहीं हो सकता। वर्ण-व्यवस्था पर आधारित सामंती मूल्यों से तथा खुद से भी हम नहीं लड़ते तब तक हमारे आदर्श खोखले हैं। अपने अहम् पर जरा सी चोट लगने पर सारे आदर्श और सिद्धांत ताश के पत्तों के महल की तरह गिर कर ढेर हो जाते हैं।

जरूरत मध्यवर्गीय, सामंती सोच और मानसिकता से लड़ने की है। तभी हम नई सामाजिक चेतना को ग्रहण कर सकते हैं और परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में अपनी सामाजिक भूमिका का निबाह कर सकते हैं।

दरअसल यह भाव मेरे अंदर बहुत दिनों से जोर मार रहे थे। देखा जाय तो यही उपन्यास का निष्कर्ष या संदेश भी है। इसके साथ ही मैंने एक बात और लक्ष्य की। **यानि चौथी बात**— हमारे समाज में (विशेष रूप से मध्यवर्गीय पढ़े-लिखे समाज में) पाखंड और हिपोक्रेसी बहुत है। विशेषकर शादी-ब्याह में संबंध करते समय अपने और घर-परिवार के बारे में झूठ बोलना अक्सर सामान्य सी बात होती है। लड़की हो या और लड़के वाले अपनी हैसियत, परिवार और संबंधों पर आवश्यकतानुसार झूठ बोल देते हैं।

जाति और वर्ण व्यवस्था का ज़हर हमारे समाज में इस कदर घुला है कि लोगों की पूरी तर्क बुद्धि को नष्ट कर देता है। आज एक ओर कठिन आर्थिक परिस्थितियाँ हैं और दिन पर दिन दहेज दानव का विकराल बढ़ता रूप है। लड़कियों में अपने भविष्य और विवाह को लेकर भीषण असुरक्षा है। दूसरी ओर दलित वर्ग का एक हिस्सा जो सरकार द्वारा प्रदत्त सुविधाओं और अवसरों का लाभ उठा कर पढ़-लिख गया है, ऊँचे सम्मानित ओहदों पर पहुँच गया है, वह अपना वर्ग और वर्ण बदलने को आतुर है। जिस वर्ण व्यवस्था का वह सैकड़ों हजारों साल से शिकार था, आज मौका पाते ही वह भी इसी व्यवस्था का अंग बनकर पाला बदलना चाहता है। यह भी एक जटिल सामाजिक-मनोवैज्ञानिक पहलू है। कई घटनाएँ मेरे संज्ञान में आईं जहाँ दलित वर्ग के संपन्न, सुशिक्षित लड़के की शादी सवर्ण वर्ग की लड़की से हो गई। बाद में वास्तविकता का भान होने पर सवर्ण जाति की लड़की ने आत्महत्या कर ली। (ग्लानि की अथाह गहराई) या संबंध विच्छेद हो गया। मुझे लगता है कि पति-पत्नी के बीच की सारी मुहब्बत, सारी अंतरंगता-झटके में टूट गई, सिर्फ जाति का खुलासा होने पर। कितने कमजोर बंधन होते हैं मन के और प्यार के। या कितनी गहरी होती है संस्कारों की जकड़न और समाज प्रदत्त जाति भेद पर आधारित घृणा की जड़ें। दुखद स्थिति है यह।

**पांचवी बात**—मेरी जानकारी में कुछ शिक्षित आधुनिकाओं ने दलित वर्ग के प्रशासनिक अधिकारियों से विवाह किया। मेरी जिज्ञासा थी कि उनके बीच कौन सी मनोवैज्ञानिक कुंठा पनपी होगी। व्यवहार में कहाँ, कैसी गाँठें आई होंगी। उन आधुनिकाओं ने क्या केवल उच्च

पदस्थ अधिकारी पति को ही ग्रहण किया या उसके साथ उसके समूचे परिवार—परिवेश को भी समेटा और स्वीकारा। मेरी राय में ऐसा नहीं हुआ। इसीलिये इन परिस्थितियों में उच्च पदस्थ दलित पति अवश्य अपना वर्ग रूपान्तरण कर लेता है। सामाजिक स्तर के साथ—साथ वर्ग चरित्र भी बदल जाता और वह भी वर्णवादी कुलीन वर्ग का अंग बन जाता है।

यह कुछ मेरे अनुभव और सोच के बिन्दु थे जिसके आधार पर उपन्यास का ताना—बाना मैंने बनाया था। मैंने उपन्यास में इस समस्या को उस सामंती परिवेश की उच्चवर्गीय नीलिमा की आँखों से देखा है।

यह उपन्यास नायक ईशू की नज़रों से दलित की आत्मकथा जैसा हो सकता था जिसकी मैं आधिकारिक लेखक नहीं थी। मैं शायद उस दृष्टिकोण से न्याय न कर पाती। इसके अलावा वर्णन में अतिरेकता या स्टीरियो टाइप होने का भी खतरा था। इसके अतिरिक्त मेरा विचार है और अनुभव भी है कि सामाजिक चेतना के लिये होने वाले प्रयास और प्रचार में सामाजिक जन—आंदोलनों का बहुत महत्व है। सामाजिक रूपान्तरण और व्यक्तित्व रूपान्तरण के लिये सामाजिक कार्यक्रमों और आंदोलनों में हमारी सक्रिय भागीदारी ही हमें उदार और सहृदय बनाती है और हमें सामान्यजन के दुख—दर्द से परिचित कराकर सच्चे अर्थों में इन्सान बना सकती है। कोरी बौद्धिकता केवल खोखले आदर्शों को जन्म देती है। मानवीय संवेदना और जन साधारण से हमारा तादात्म्य हमें मानवीय मूल्यों की ऊंचाई तक पहुंचा सकता है। बिना इस मानवीय संवेदना के समाज में परिवर्तनकारी शक्तियाँ प्रभावी नहीं हो सकती और न ही जिस वर्णभेद रहित समाज की हम कल्पना करते हैं वह निर्मित किया जा सकता है।

नायिका नीलिमा को एक लंबी प्रक्रिया से गुजरना था अपने व्यक्तित्व रूपान्तरण के लिये। इसके लिये मेरा स्वयम् का अनुभव संसार सबसे कारगर था। अर्थात् महाविद्यालय का वातावरण। महिला महाविद्यालय उपन्यास में नायिका की कार्यस्थली है जहां मुख्य धारा के साथ अंतर्कथाओं के रूप में कामकाजी महिलाओं के संसार और उनकी समस्याओं का भी परिचय मिलता है। कन्या महाविद्यालय का परिवेश सबसे अधिक प्रामाणिक और उपयुक्त था।

मैं स्वयं सामाजिक कामों से जुड़ी हूँ। कई वर्षों तक अलीगढ़ नौजवान सभा की अध्यक्ष रही। अनेक महिला संगठनों से जुड़ी हूँ। दलित वर्ग के बीच कई वर्षों तक सक्रिय

रूप से अनेक सामाजिक कार्य किये हैं, आंदोलनों में सक्रिय भागीदारी रही है। मेरा मानना है कि दूसरों के दुखों से जुड़ने पर अपने दुखों की तुच्छता का अहसास होने लगता है। इसके अलावा आपके—हमारे समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग, जिसमें विशेष रूप से दलित वर्ग है—वह साधारण सामाजिक अधिकारों और न्याय से वंचित वर्ग है। इस दलित समाज में औरत होना कोढ़ में खाज है। पढ़ा—लिखा, सम्पन्न वर्ग यदि इस वंचित वर्ग के लिए आगे आये, तो काफी हद तक हालात सुधर सकते हैं। गाँवों में औरतों के बीच काम करने की बहुत ज़रूरत है। इसीलिये यह अनुभवजन्य प्रसंग स्वयंम् के अनुभव के रूप में आये हैं जो कथानक का प्रमुख हिस्सा बनते हैं।

उपन्यास विधा में शिल्प बहुत आवश्यक तत्व है। कहानी तो है नहीं कि अगर प्रभावी नहीं है तो भी पढ़ी जा सकती है। उपन्यास की पठनीयता बनाये रखने में शिल्प की सावधानी और उस पर श्रम बहुत आवश्यक है।

पठनीयता और रोचकता के लिये मैं इस उपन्यास में सजग रही हूँ। फ्लैश बैक पद्धति का मैंने इस्तेमाल किया है और लगातार उसे वर्तमान के साथ जोड़ती चली हूँ ताकि कथानक कहीं भी विखंडित न लगे।

उपन्यास का अंत बहुत लोगों को ठीक नहीं लगा। कई लोगों ने बहुत अफसोस से कहा कि तुमने ईशू (उपन्यास का नायक) को अंत में मार क्यों दिया। ईशू के मरने पर पाठकों की अकुलाहट मेरा श्रम सार्थक करती है। लोगों को लगता है कि उसे नहीं मरना चाहिये था। वह नीलिमा (नायिका, उसकी पत्नी) की ज़्यादातियों का, उसके अन्याय का शिकार हुआ था। मैं यही सहानुभूति, यही मानवीय संवेदना उसके लिये पाठकों के मन में पैदा करना चाहती थी और मैं इसमें सफल हुई। कुछ लोगों का कहना है कि नीलिमा ने अंत में अपनी गलती स्वीकार कर ली थी। ईशू की मौत के बाद अब उसे ताउम्र प्रायश्चित की आग में जलना होगा। यह वैयक्तिक और सामाजिक प्रायश्चित ही मेरा अभीष्ट है। फिर यह अंत शिल्पगत भी है। यह अंत पाठक को झकझोरता है, परेशान करता है और सोचने को मजबूर करता है। यह अंत है जिससे पाठकों को यह उपन्यास हमेशा के लिये याद रहेगा।

पूरा उपन्यास आज की सामाजिक परिस्थितियों में मनोवैज्ञानिक स्तर पर चलने वाले कथानक को समेटता है जिसमें दलित अस्मिता की बात है और दलितों की सामाजिक समानता और संघर्ष की बात है। कामकाजी औरतों की विभिन्न स्थितियां हैं और सामाजिक आंदोलनों में उनकी भूमिका है।

लेकिन संवेदनात्मक धरातल पर उपन्यास में निर्मित परिस्थितियां मैंने कई सालों तक झेली हैं। यानि जब से इस उपन्यास की भावभूमि मेरे मन में तैयार हुई और जब तक यह उपन्यास लिखकर तैयार हुआ, मैं नीलिमा की मनःस्थिति में जीती रही। ईशू के साथ नीलिमा के संबंधों को, उस मनोवैज्ञानिक और भावनात्मक दबावों को स्वयम् अपने भीतर निर्मित कर उस बनाये हुये रचना संसार में इतने वर्षों तक मैं जीती रही। जब तक उपन्यास मुकम्मिल न हो गया और प्रेस में न चला गया, उस तनाव को और दबाव को मुझे स्वयम् अपने भीतर तैयार करना पड़ा। स्वयम् को नीलिमा के स्थान पर रखकर उस पूरे कथानक से गुजरना पड़ा और केवल तभी उपन्यास में अनुभव की और संवेदना की प्रामाणिकता जैसा भाव आ सका।

दरअसल अपनी स्वयम् की पारिवारिक परिस्थितियों ने मुझे अपने भीतर औपन्यासिक वातावरण के सृजन में बहुत मदद की। मेरे और मेरे पति के बीच पारिवारिक पृष्ठभूमि में जमीन-आसमान का अंतर है। सामाजिक, सांस्कृतिक और बौद्धिक स्तर पर हम दोनों के परिवार दो छोर हैं। इस बड़े अन्तर के कारण इन परिस्थितियों को मैंने बड़ी आसानी से रचना के स्तर पर पुनर्निर्मित कर लिया। यह अवश्य है कि उन समस्त वर्षों में अपने भीतर बनाये गये रचना संसार में मैंने बहुत यातनापूर्ण समय बिताया। मैं मानसिक स्तर पर हर वक्त नीलिमा के रूप में थी। मुझे लगा कि अगर जल्दी ही उपन्यास न लिखा गया तो तनाव के कारण कहीं हमारे बीच वैसी ही अलगाव की स्थिति न आ जाये। इसीलिये जल्दी से जल्दी उपन्यास समाप्त कर उस मानसिक कारागार से मुक्ति मेरे लिये बेहद ज़रूरी बन गई।

0 0 0

केवल एक घटना का जिक्र करूंगी। एक छोटी सी घटना और फिर उसके बाद के एहसास ने मुझे प्रेरित किया कि तुरंत मैं अब इसे लिखने बैठ जाऊं।

मैं कॉलेज से जिस रिक्शे में घर आई वह रिक्शेवाला कहने लगा कि वह मुझे जानता है। मैंने सोचा कि हो सकता है मैं अक्सर उस रिक्शे में बैठती होऊँ इसलिये जानता हो। उसने कहा कि नहीं, वह मेरे पति को जानता है। मेरे पति उसके बाबा लगते हैं। मैं ताज्जुब में पड़ गई और कुछ नहीं बोली। मैंने सोचा कि सिरफिरा है यह।

कुछ दिन बाद फिर इत्तेफाक से वही रिक्शा मिला और मैं घर आई। फिर पैसे लेते समय उसने वही बात दोहराई। मैंने उससे कुछ नहीं कहा लेकिन परेशान हो गई। इस रिक्शेवाले का मेरे पति से क्या संबंध हो सकता है। मेरे पति गाँव के साधारण किसान परिवार से संबंधित हैं और उनके परिवार के सगे-संबंधियों से मेरा कोई पूर्व परिचय नहीं रहा।

एक लंबे अवसाद के बाद मैंने खुद का मन टटोला और लगा कि सामाजिक समानता और न्याय के सिद्धांत का मेरा आदर्श कितना खोखला है। मुझे यह भी एहसास हुआ कि मेरी अपने संस्कारों के साथ लड़ाई अभी अधूरी है। मुझे अभी अपने आत्मनिरीक्षण को और स्वयम् की विचारधारा को पुख्ता करने की जरूरत है।

इस छोटी सी घटना ने मेरे हाथ में बहुत दिनों से उपन्यास की भावभूमि को जो तैयार हो चुकी थी, उसे शुरू करने का सूत्र थमा दिया। दिलचस्प बात यह है कि उपन्यास में वर्णित इसी घटना को कुछेक लोगों ने अविश्वसनीय बताया।

मुझे प्रसन्नता है कि उपन्यास को पाठकों ने बहुत पसंद किया। कथाकार मित्रों ने तथा आलोचकों ने इस उपन्यास की विश्वसनीयता को लेकर भी बात की। मुझे लगता है कि दलित समाज की समस्याओं को इस धरातल पर शायद देखा-जांचा, परखा और महसूस नहीं किया है। अपने दलित कथाकार मित्रों को छोड़ दें लेकिन उच्च वर्ण के मित्रों ने इस समस्या को सैद्धांतिक रूप में केवल देखा और पढ़ा है। न तो मानसिक धरातल पर परिस्थितियों से रूबरू हुये हैं और न ही अंतरंग मानवीय संवेदनात्मक आधार पर महसूस किया है। इसलिये आलोचकों की तो मैं चिन्ता कभी नहीं करती। मेरा पैमाना पाठक वर्ग है। दरअसल प्रबुद्ध लोगों की कथनी और करनी में अंतर है। सिद्धांतों और भाषणों में बहुत बड़े आदर्श हैं लेकिन भीतर वही सामंती मानसिकता है। हमारे जातिवादी संस्कार और आग्रह उतने ही प्रबल और मजबूत हैं इसलिये यह उपन्यास उन्हें थोड़ा परेशान करने लगता है।

मुझे अपने पाठकों की प्रतिक्रियाओं से बल मिला है। उनका यह कहना कि उपन्यास उद्धेलित करता है और उपन्यास का अंत उन्हें बेचैन करता है—यही मेरा इष्ट है।

नमिता सिंह